पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य में धर्म : एक पारिभाषिक विवेचन

शोध–सार

डॉ० श्रवण कुमार मोदी
एम०ए०,पी–एच०डी०,नेट
बारा चकिया, पूर्वी चम्पारण, बिहार–845412

धर्म मानव जीवन का एक आवश्यक तत्त्व है। सम्पूर्ण दुनिया में इसकी चर्चा आरंभिक काल से होती रही है और भिन्न–भिन्न देश और भिन्न–भिन्न जाति के लोग इसे भिन्न–भिन्न रूपों में लेते रहे हैं। अलग–अलग समयों में भी इसका स्वरूप बदलता रहा है। लेकिन इन परिवर्तनों के बावजूद धर्म मे कुछ ऐसे स्थाई तत्त्व हैं जिनके कारण 'धर्म' शब्द कहने से हम उसके समान्य अर्थ को समक्ष लेते हैं।

धर्म को अंग्रेजी में Religion कहा जाता है। Religion शब्द 'Re' तथा 'Ligare' इन दो शब्दों के मेल से बना है जिसका अर्थ 'बाँधना' होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्म वह है जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से बाँधता है। इस प्रकार धर्म व्यक्ति और समाज के बीच संबंध स्थापित करने वाला कारक है। इसे व्यक्ति के आंतरिक और बाह्य दोनों पक्षों में संबंध स्थापित करने वाला के साथ–साथ भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच भी संबंध स्थापित करने वाला बताया गया है। विश्वकोश में धर्म को विश्वास, साधना, विधि तथा भाव आदि से संबंधित बताया गया है।

कुछ दार्शनिक तो ऐसे हैं जो केवल धर्म को बौद्धिक पहलू पर ही केन्द्रित करते हैं। ऐसे दार्शनिकों में हीगल और मैक्समूलर का नाम लिया जाता है। हीगल के अनुसार धर्म एक प्रकार का ज्ञान है जिसमें निरपेक्ष विज्ञान अथवा सीमित तथा असीमित की पारमार्थिक एकता का पूर्ण बोध होता है। इसलिए उनका कहना है कि सीमित बुद्धि द्वारा अपने स्वरूप का असीमित अथवा पूर्ण बुद्धि के रूप में ज्ञान ही धर्म है। हीगल के सामान ही मैक्समूलर ने भी धर्म को अनंत ज्ञान प्राप्त करने वाली शक्ति या प्रवृत्ति माना है। परन्तु हीगल और मैक्समूलर की ये परिभाषाएँ कुछ त्रुटियों के कारण स्वीकार्य नहीं हैं। मार्टिन्यू की परिभाषा कि धर्म शाश्वत ईश्वर में विश्वास है, दोषपूर्ण हो जाती है इसलिए कि यह परिभाषा धर्म के पूर्ण स्वरूप को प्रकट नहीं कर पाती। धर्म को केवल आध्यात्मिक ज्ञान तक ही सीमित नहीं किया जा सकता इसलिए प्रो० टायलर की इस परिभाषा को कि आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास ही धर्म है, दार्शनिकों ने स्वीकार नहीं किया। शिलियर मेकर के अनुसार ईश्वर पर पूर्ण रूप में निर्भर रहने की भावना में ही धर्म

 Copyright ⓒ 2020 Authors

का सार निहित है। यद्यपि शिलियर मेकर की यह परिभाषा धर्म के भावनात्मक पक्ष को स्वीकार करती है परन्तु इसका दोष यह है कि यह अन्य दो तत्त्वों– 'ज्ञान और क्रिया' को अस्वीकृत कर देती है।

कान्ट और फ्लाईड आदि ऐसे विचारक हैं जो संकल्प को धर्म के मूलभूत सार के रूप में स्वीकारते हैं। कान्ट के अनुसार हमारे नैतिक कर्तव्यों को ईश्वरीय आदेशों के रूप में अभिज्ञान ही धर्म है। इसी तरह फ्लाईड के अनुसार भी ईश्वर के विचारों के अनुरूप संकल्प की दिशा ही धर्म है और इसी कड़ी में टी० जी० फ्रेजर का भी कहना है कि धर्म का अर्थ उन अतिमानवीय शक्तियों की संतुष्टि और पूजा है जो प्रकृति एवं मानव जीवन का संचालन और नियंत्रण करती है परन्तु ये परिभाषाएँ भी दोषमुक्त नहीं हैं। जे०एच० ल्यूवा के अनुसार धर्म की सम्पूर्णता के लिए ज्ञानात्मक, भावनात्मक और क्रियात्मक पहलूओं का होना आवश्यक है। चूँकि धर्म सम्पूर्ण मानव मन की प्रतिक्रिया है इसलिए इन तीनों पहलूओं में से किसी एक के अभाव में धार्मिक चेतना की सम्पूर्णता बाधित होती है।

मैथ्यूआरनौल्ड के अनुसार संवेग सहित नैतिकता ही धर्म है। इस परिभाषा में नैतिकता पर अत्यधिक बल देते हुए उसे धर्म से अभिन्न बताया गया है जबकि ऐसा है नहीं। वहीं दूसरी ओर धर्म की परिभाषा देते हुए हौफडिंग ने भी कहा कि मूल्यों के संरक्षण में विश्वास ही धर्म है। हौफडिंग के आलावा डब्लू० के० राइट ने भी मूल्यों के आधार पर धर्म को परिभाषित करते हुए कहा कि धर्म एक ऐसा प्रयास है जिसमें समाज से मान्यता प्राप्त मूल्यों का कुछ विशिष्ट क्रियाओं के द्वारा संरक्षण किया जाता है।

पाश्चात्य दर्शन में धर्म का विकास क्रमिक ढंग से हुआ है। इसलिए प्रारम्भ के धर्म–दार्शनिकों द्वारा दी गई धर्म की त्रुटिपूर्ण परिभाषाओं को त्रुटिहीन बनाने की कोशिश बाद के धर्म–दार्शनिकों ने की है और वे इसमें सफल भी हुए हैं। ऐसी परिभाषा देने वालों मे गैलवे का नाम आता है। उनके अनुसार अपने से परे शक्ति में मनुष्य का वह विश्वास धर्म है, जिसके द्वारा वह अपनी संवेगात्मक आवश्यकताओं की संतुष्टि और जीवन की स्थिरता प्राप्त करता है तथा जिसे वह उपासना और सेवा के माध्यम से प्रकट करता है। सफल परिभाषाओं की अगली कड़ी में प्रो० फिलन्ट का नाम आता है। उनका कहना है कि धर्म मनुष्य का अपने से अधिक समर्थ सत्ता या सत्ताओं, जो इन्द्रिय अगोचर है परन्तु उनकी भावनाओं और कर्मों के प्रति उदासीन नहीं है, में आस्था से उद्‌भुत भावनाएँ और क्रियाएँ है। धर्म की एक संगत परिभाषा जेम्स मार्टिन्यू ने दी है। उनके अनुसार धर्म एक चिरंतन ईश्वर में विश्वास है, यह अतिमानस और दैवी संकल्पना है जो अखिल ब्रह्माण्ड पर शासन करता है तथा मानवता को नैतिक सूत्रों में बाँधता है।

इस प्रकार धर्म–संबंधी इन विभिन्न परिभाषाओं से गुजरते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धर्म कोई एकांगी तत्त्व नहीं है, यह एक सम्पूर्ण तत्त्व है जिससे मनुष्य के ज्ञान, भावना और क्रिया इन तीनों की संतुष्टि होती है।

Copyright ⓒ 2020 Authors

ISSN: 2278-4632
Vol-10 Issue-1 No. 3 January–December 2020

डॉ० श्रवण कुमार मोदी
एम०ए०,पी–एच०डी०,नेट
बारा चकिया, पूर्वी चम्पारण, बिहार–845412
मोबाईल नं०–9608685335

Copyright ⓒ 2020 Authors

ISSN: 2278-4632
Vol-10 Issue-1 No. 3 January–December 2020

पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य में धर्म : एक पारिभाषिक विवेचन

शोध–आलेख डॉ० श्रवण कुमार मोदी

धर्म मानव जीवन का एक आवश्यक तत्त्व है। सम्पूर्ण दुनिया में इसकी चर्चा आरंभिक काल से होती रही है। परन्तु एक आवश्यक और प्राचीन काल से चर्चित होने के बावजूद इसके संबंध में निश्चितता से कुछ भी कहना आज भी मुश्किल होता है। इसलिए इसके स्वरूप को सुनिश्चित करने में भी कठिनाई होती है। ऐसा इसलिए होता है कि अलग–अलग देश और अलग–अलग जाति के लोग इसे अलग–अलग रूपों में लेते रहे हैं। इतना ही नहीं, अलग–अलग समयों में भी इसका स्वरूप बदलता रहा है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि धर्म का स्वरूप अनेक परिवर्तनों के बीच विकसित होता रहा है। लेकिन इन परिवर्तनों के बावजूद धर्म में कुछ ऐसे स्थाई तत्त्व हैं जिनके कारण 'धर्म' शब्द कहने से हम उसके सामान्य अर्थ को समझ लेते हैं। इसलिए प्रो० डी.एम. एडवर्ड ने कहा है कि ''यदि धर्म का कोई विश्वजनीन और निश्चित रूप इन परिवर्तनों और विकास के बीच भी स्थिर न होता तो 'धर्म' शब्द का कोई निर्दिष्ट करने योग्य अर्थ ही नहीं होता। इसी निश्चितता और विश्वजनीनता के कारण हम धर्म के विभिन्न विरोधी रूपों के होते हुए भी उसे धर्म की संज्ञा दे पाते हैं। इस निश्चितता और विश्वजनीनता को धर्म का सामान्य तत्त्व कहा जा सकता है।''[1]

सामान्यतः धर्म को व्यक्तिगत और संस्थागत रूपों में देखा जा सकता है। ये दोनों ही रूप मनुष्य का धर्म के प्रति आस्था और उसके क्रिया–कलापों के सूचक होते हैं। परन्तु दोनों में फर्क यह है कि जहाँ संस्थागत रूप में धर्म कर्मकांड, रीति–रिवाज, संस्कार–उत्सव आदि धर्म के बाह्य पक्ष से जुड़ा होता है वहाँ वैयक्तिक रूप में धर्म मनुष्य की अपने आराध्य की ओर, जिसे वह 'ईश्वर' की संज्ञा भी देता है, उन्मुख होने वाली आंतरिक प्रवृत्तियों से जुड़ा है। इसलिए डॉ० हृदय नारायण मिश्र कहते हैं कि ''इन दोनों ही रूपों में व्यक्ति धर्म में विश्वास, आस्था तथा क्रियावृत्ति को अवश्य प्रकट करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म एक मानसिक क्रिया है जिसमें मनुष्य की बुद्धि, भावना तथा इच्छा–शक्ति प्रकट होती है। वैयक्तिक दृष्टि से धर्म में विश्वास और आस्था तथा प्रेम आंतरिक तत्त्व के रूप में काम करते हैं और धर्मिक क्रियाएँ तथा पूजा–पाठ, संस्कार, उत्सव, कर्मकांड आदि बाह्य तत्त्व के रूप में हैं।''[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि बुद्धि, भावना तथा क्रियात्मकता–ये तीनों तत्त्व हर देश–काल और जातियों के धर्मों में पाए जाते हैं। इसलिए इन्हीं तत्त्वों के आधार पर धर्म के सामान्य रूप को

Copyright © 2020 Authors

रेखांकित किया जा सकता है। इस संदर्भ में सबसे पहली बात यह है कि मनुष्य सदा से किसी अदृश्य सत्ता के प्रति विश्वास करता रहा है। वह इसे ही 'ईश्वर' की संज्ञा भी देता है। कई बार ऐसा देखा जाता है कि कुछ लोग ईश्वर में विश्वास नहीं करते परन्तु ऐसे अविश्वासी लोग भी किसी–न–किसी अदृश्य सत्ता में जरूर विश्वास करते हैं भले ही वे इसे ईश्वर न कहें। इसी विश्वास के आधार पर वे अपनी धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन भी करते हैं। इसलिए किसी अदृश्य सत्ता के प्रति इस विश्वास को धर्म का सामान्य तत्त्व कहा जा सकता है। इस अदृश्य सत्ता के प्रति विश्वास के कारण ही धर्म का विषय पवित्र और महान माना जाता है। किसी भी काल, किसी भी देश और किसी भी जाति का धर्म हो, उस धर्म में पवित्रता और महानता की भावना अनिवार्यतः जुड़ी होती है। इसी पवित्रता और महानता के कारण मनुष्य उस अदृश्य सत्ता के प्रति अपना आत्मसमर्पण कर पाता है। इसलिए इस आत्मसमर्पण को भी धर्म के सामान्य तत्त्व के रूप में स्वीकारा जा सकता है। धर्म आस्था और विश्वास पर आधरित है और किसी–न–कसी कर्मकांड तथा नैतिकता से अनिवार्य रूप से संबंधित है। यह मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन पर प्रभाव डालता है। यह उसमें आस्था उत्पन्न करता है, विकास के लिए प्रेरित करता है, क्रियाशील बनाता है तथा उच्चतम मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध करता है।

'धर्म' को अंग्रेजी में Religion कहा जाता है। Religion शब्द 'Re' तथा 'Ligare' इन दो शब्दों के मेल से बना है जिसका अर्थ 'बाँधना' होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्म वह है जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से बाँधता है। इस वैयक्तिक बंधन के दायरे को और व्यापक करते हुए धर्म को मनुष्य से बाँधने वाला तत्त्व भी बताया गया है। इस प्रकार धर्म व्यक्ति और समाज के बीच संबंध स्थापित करने वाला कारक है। इसे व्यक्ति के आंतरिक और बाहय दोनों पक्षों में संबंध स्थापित करने वाला के साथ–साथ भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच भी संबंध स्थापित करने वाला बताया जाता है। विश्वकोश [3] में धर्म को विश्वास, साधना, विधि तथा भाव आदि से संबंधित बताया गया है।

धर्म को परिभाषित करने के क्रम में उसका प्रयोग कई अर्थों में किया गया है। कुछ दार्शनिक तो ऐसे हैं जो केवल धर्म को बौद्धिक पहलू पर ही केन्द्रित करते हैं। ऐसे दार्शनिकों में हीगल और मैक्समूलर का नाम लिया जाता है। हीगल के अनुसार धर्म एक प्रकार का ज्ञान है जिसमें निरपेक्ष विज्ञान अथवा सीमित तथा असीमित की पारमार्थिक एकता का पूर्ण बोध होता है। इसलिए उनका कहना है कि ''अपूर्ण बुद्धि द्वारा अपने स्वरूप का पूर्ण बुद्धि के रूप में ज्ञान ही धर्म है।''[4] हीगल के समान ही मैक्समूलर ने भी

Copyright © 2020 Authors

धर्म की परिभाषा देते हुए कहा है कि ''धर्म वह मानसिक शक्ति या प्रवृत्ति है जो मनुष्य को अनंत सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम सिद्ध होती है।''[5] परन्तु हीगल और मैक्समूलर की ये परिभाषाएँ कुछ त्रुटियों के कारण स्वीकार्य नही हैं। जैसे हीगल के अनुसार सीमित बुद्धि द्वारा असीमित ज्ञान केप्राप्त करने की बात कहना विरोधी धारणा है क्योंकि जो सीमित है वह असीमित का ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकती है? इसके अतिरिक्त इस परिभाषा में धर्म के केवल बौद्धिक पहलू पर ही ध्यान दिया गया है जबकि उसके अंदर भावना और क्रिया का भी समावेश होता है। मैक्समूलर की परिभाषा भी धर्म के भावनात्मक और क्रियात्मक पक्ष की उपेक्षा करने के कारण अपूर्णता और एकांगिकता के दोष से ग्रसित हो जाती है।

इसी तरह मार्टिन्यू की परिभाषा ''धर्म शाश्वत ईश्वर में विश्वास है।''[6] भी दोषपूर्ण हो जाती है, इसलिए कि यह परिभाषा धर्म के पूर्ण स्वरूप को प्रकट नहीं कर पाती। फिर कुछ ऐसे भी धर्म हैं जो ईश्वर में विश्वास ही नहीं करते। ऐसी स्थिति में धर्म को केवल ईश्वर के विश्वास के रूप में कैसे परिभाषित किया जा सकता है। धर्म को केवल आध्यात्मिक ज्ञान तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। इसलिए प्रो० टायलर की इस परिभाषा को कि आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास ही धर्म है, दार्शनिकों ने स्वीकार नहीं किया। इन दार्शनिकों से पृथक् धर्म को भावना पर आधारित करते हुए शिलियर मेकर ने उसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। इसलिए मेकर के अनुसार ईश्वर पर पूर्ण रूप में निर्भर रहने की भावना में ही धर्म का सार निहित है। यद्यपि शिलियर मेकर की यह परिभाषा धर्म के भावनात्मक पक्ष को स्वीकार करती है, परन्तु इसका दोष यह है कि यह अन्य दो तत्त्वों–'ज्ञान और क्रिया' को अस्वीकृत कर देती है।

कान्ट और फ्लाईड आदि ऐसे विचारक हैं जो संकल्प को धर्म के मूलभूत सार के रूप में स्वीकारते हैं। इसलिए कान्ट धर्म को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि ''हमारे दैनिक कर्तव्यों का ईश्वरीय आदेशों के रूप में अभिज्ञान ही धर्म है।''[7] इसी तरह फ्लाईड के अनुसार भी ईश्वर के विचारों के अनुरूप संकल्प की दिशा ही धर्म है और इसी कड़ी में टी.जी. फ्रेजर का भी कहना है कि धर्म का अर्थ उन अतिमानवीय शक्तियों की संतुष्टि और पूजा है जो प्रकृति एवं मानव जीवन का संचलान एवं नियंत्रण करती है। लेकिन पूर्व की सभी परिभाषाओं की तरह ये परिभाषाएँ भी संतोषप्रद नहीं हैं क्योंकि ये केवल धर्म के लिए कर्म एवं संकल्प को आवश्यक मानती हैं और भक्ति, श्रद्धा, पूजा, प्रार्थना आदि धार्मिक अनुभूतियों को समुचित स्थान नहीं देती हैं।

Copyright ⓒ 2020 Authors

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ऊपर दी गईं सभी परिभाषाएँ अधूरी हैं। इस अधूरेपन का कारण यह है कि ये धार्मिक चेतना के सभी पहलुओं की पूर्ण व्याख्या नहीं कर पाती। हम जानते हैं कि धार्मिक चेतना वह प्रक्रिया है जो उन तथ्यों की विवेचना करती है जिससे मानव का झुकाव धर्म की ओर होता है। साधारणतः चेतना शब्द का अर्थ ज्ञान होता है और व्यावहारिक जीवन में इसका प्रयोग भी इसी अर्थ में किया जाता है परन्तु यह चेतना का संकीर्ण प्रयोग है। व्यापक रूप में इसका प्रयोग मन के तीनों पहलुओं–विचार, भावना और इच्छा के सम्मिलित रूप के लिए किया जाता है। जे.एच. ल्यूवा ने इस ओर संकेत करते हुए कहा है कि –''चेतन जीव की इकाई न विचार है, न भाव, न इच्छा अपितु किसी वस्तु के प्रति तीनों की संश्लिष्ट गति है।''8 धार्मिक चेतना में 'चेतना' शब्द का प्रयोग इस व्यापक अर्थ में ही किया गया है। इसलिए इस अर्थ के अनुसार धार्मिक चेतना के तीन पहलू हो जाते हैं जिन्हें ज्ञानात्मक पहलू, भावनात्मक पहलू तथा क्रियात्मक पहलू कहा जाता है। धर्म की सम्पूर्णता के लिए इन तीनों पहलुओं का होना आवश्यक है। जिस प्रकार मन की व्याख्या विचार, भावना अथवा इच्छा इन तीनों में से किसी एक की उपेक्षा करके पूरी तरह नहीं की जा सकती उसी प्रकार धर्म की व्याख्या भी ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक–इन तीनों पहलुओं में से किसी एक पहलू की उपेक्षा करके नहीं की जा सकती है। चूँकि धर्म सम्पूर्ण मानव मन की प्रतिक्रिया है इसलिए इन तीनों पहलुओं में से किसी एक के अभाव में धार्मिक चेतना की सम्पूर्णता बाधित होती है, वह अशक्त, अपूर्ण एवं एकांगी हो जाती है। अतः धर्म की सम्पूर्णता के लिए इन तीनों पहलुओं का होना आवश्यक है।

मैथ्यूआरनौल्ड के अनुसार संवेग सहित नैतिकता ही धर्म है। इस परिभाषा में नैतिकता पर अत्यधिक बल देते हुए उसे धर्म से अभिन्न बताया गया है जबकि ऐसा है नहीं। इसलिए इस परिभाषा से असहमति जताते हुए यह कहा जा सकता है कि यद्यपि धर्म और नैतिकता में घनिष्ठ संबंध है परन्तु इससे धर्म और नैतिकता की अभिन्नता का निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है। फिर धर्म का एक प्रकार आदिम धर्म भी है जिसमें नैतिकता का अभाव है। इसलिए मैथ्यूआरनौल्ड की यह परिभाषा उस धर्म की व्याख्या नहीं कर पाती।

धर्म की एक परिभाषा हौफडिंग ने भी दी है। हौफडिंग के मुताबिक मूल्यों के संरक्षण में विश्वास ही धर्म है। हौफडिंग ने अपनी इस परिभाषा में धर्म का आधार मूल्य को बताया है। इसलिए उनकी यह परिभाषा इस मान्यता पर आधरित है कि मूल्य का कभी नाश नहीं होता। हौफडिंग के ऐसा मानने का

 Copyright ⓒ 2020 Authors

कारण ऊर्जा की अविनाशिता का सिद्धांत है। उनका मानना है कि जिस प्रकार ऊर्जा का नाश नहीं होता, उसी प्रकार मूल्य का भी नाश नहीं होता है। अतः ऊर्जा की अविनाशिता के सदृश्य ही मूल्य की अविनाशिता भी है और मूल्य की यही अविनाशिता धर्म का आधार है परन्तु हौफडिंग की इस मान्यता से सहमति नहीं जताई जा सकती क्योंकि ऊर्जा की मात्रा निश्चित एवं स्थिर है जबकि मूल्य की मात्रा स्थिर एवं निश्चित नहीं है।

हौफडिंग के अलावा डब्लू.के.राइट ने भी मूल्यों के आधार पर धर्म को परिभाषित करने का प्रयास किया है। राइट के अनुसार धर्म एक ऐसा प्रयास है जिसमें समाज से मान्यता प्राप्त मूल्यों का कुछ विशिष्ट क्रियाओं के द्वारा संरक्षण किया जाता है। इन क्रियाओं में किसी मानवेत्तर शक्ति का आह्वान किया जाता है तथा उस शक्ति पर निर्भरता का भाव निहित रहता है। इसी तरह डब्लू.ई.हॉकिंग ने भी धर्म को मूल्य से जोड़ते हुए यह माना है कि इसका संबंध अतीत एवं वर्तमान मूल्यों की अपेक्षा भविष्य से अधिक है। इस संबंध में हॉकिंग का कहना है कि धर्म उन सभी वस्तुओं की एक ही अनुभूति में वर्तमान उपलब्धि है जो प्राकृतिक प्रक्रिया में अनंत प्रगति के अंत में प्राप्त होती है। धर्म प्रत्याशित उपलब्धि है। मूल्य आधारित इन परिभाषाओं में धर्म के आगन्तुक मूल्यों की अत्यधिक महत्ता प्रतिपादित की गई है। इसलिए इन परिभाषाओं से धर्म के मूल स्वरूप तथा उसके सारभूत तत्त्वों की समुचित व्याख्या नहीं हो पाती है। वस्तुतः धर्म का संबंध आध्यात्मिक, धार्मिक तथा नैतिक मूल्यों के साथ–साथ सांसारिक एवं व्यावहारिक मूल्यों से भी होता है। इसलिए धर्म में आदर्शों का उल्लेख होता है और यह स्थापना भी होती है कि इसी जीवन में इन आदर्शों को प्राप्त भी किया जा सकता है। मोक्ष, निर्वाण अथवा कैवल्य आदि ऐसे ही मूल्य हैं जिन्हें इस संसार में रहते हुए इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है। उपरोक्त परिभाषाएँ इन मूल्यों को समुचित स्थान नहीं देतीं।

धर्म की एक परिभाषा एम. सालोमन राइनेक ने उसकी निषेधात्मक व्याख्या करते हुए दी है। उनका कहना है कि धर्म निषेधों का संग्रह है जो हमारी शक्तियों के स्वतंत्र विकास में बाधक है। राइनेक ऐसी परिभाषा देकर धर्म को पूरी तरह निषेध पर आधारित कर देते हैं, जो उचित नहीं है। यद्यपि सभी धर्मों में निषेधों का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु इससे यह सुनिश्चित नहीं होता कि निषेध ही धर्म का सर्वस्व है। दरअसल, किसी भी धर्म में कोई भी निषेध अपने आपमें सार्थक नहीं है, उसकी सार्थकता भावात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति में है। इसलिए धर्म को निषेधों का पर्याय नहीं माना जा सकता और यह स्वीकार नहीं

Copyright © 2020 Authors

किया जा सकता कि धर्म हमारी मानसिक शक्तियों के स्वतंत्र विकास में बाधक है। वास्तव में, धर्म तो जीवन के प्रतिरोधों को दूर करने में सहायता ही पहुँचाता है। इसलिए यह व्यक्तित्व के विकास और आत्मसिद्धि में सहयोगी है। फिर, यह परिभाषा धर्म के विभिन्न पहलुओं की भी विवेचना नहीं कर पाती है। इसलिए इस परिभाषा की मान्यता नहीं दी जा सकती।

उपरोक्त परिभाषाओं से भिन्न धर्म को क्रियामूलक बनाते हुए एक परिभाषा ह्वाइटहेड ने भी दी है। उनका कहना है कि मनुष्य अपने एकाकीपन में जो कुछ भी करता है, वही धर्म है। यद्यपि यह परिभाषा धर्म में क्रिया के महत्त्व को स्वीकार करती है परन्तु यह भी अन्य दूसरी परिभाषाओं की तरह अपूर्ण है क्योंकि इसमें धर्म के ज्ञानात्मक और भावात्मक इन दो पहलुओं की उपेक्षा करके केवल क्रियात्मक पहलू पर जोर दिया गया है। इसलिए यह परिभाषा एकांगी है और इसके द्वारा धर्म की विभिन्न अवस्थाओं की व्याख्या या विवेचना नहीं हो सकती है।

पाश्चात्य दर्शन में धर्म का विकास क्रमिक ढंग से हुआ है। इसलिए प्रारम्भ के धर्म–दार्शनिकों द्वारा दी गई धर्म की त्रुटिपूर्ण परिभाषाओं को त्रुटिहीन बनाने की कोशिश बाद के धर्म–दार्शनिकों ने की है और वे इसमें सफल भी हुए हैं। इसलिए वहाँ ऐसे भी धर्म–दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने अपनी परिभाषाओं के अंतर्गत धर्म के सर्वांगीण पक्षों की व्याख्या की है और उनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। इसलिए इन परिभाषाओं में 'धर्म' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है और इनमें धर्म के किसी एक पहलू पर अत्यधिक जोर न देकर उसके ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक इन सभी पहलुओं पर समान रूप से जोर दिया गया है। इसलिए इन परिभाषाओं को सफल एवं सम्पूर्ण परिभाषाओं के रूप में स्वीकृति मिली हैं।

ऐसी परिभाषा देने वालों में सबसे पहला नाम गैलवे का आता है। गैलवे ने धर्म को परिभाषित करते हुए कहा है कि ''अपने से परे शक्ति में मनुष्य का वह विश्वास धर्म है, जिसके द्वारा वह अपनी संवेगात्मक आवश्यकताओं की संतुष्टि और जीवन की स्थिरता प्राप्त करता है तथा जिसे वह उपासना और सेवा के माध्यम से प्रकट करता है'' ।9 गैलवे की इस परिभाषा को परिपूर्ण माना जाता है क्योंकि इसमें धार्मिक चेतना के तीनों पहलुओं–ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक का विवेचन हुआ है। गैलवे ने धर्म को मानव से परे की शक्ति बताया है, इससे धार्मिक चेतना के ज्ञानात्मक पहलू की विवेचना होती है क्योंकि ज्ञानात्मक पहलू के द्वारा ही कोई व्यक्ति अपने से परे की उस शक्ति को जान पाता है। फिर

 Copyright ⓒ 2020 Authors

गैलवे ने यह भी कहा है कि उस शक्ति में विश्वास के द्वारा मनुष्य अपनी संवेगात्मक आवश्यकताओं की संतुष्टि प्राप्त करता है। ऐसा कहने से भावनात्मक पहलू की व्याख्या होती है क्योंकि संवेगात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति भावना के द्वारा ही हो सकती है। इसी तरह उन्होंने यह भी कहा है कि उस भावात्मक तुष्टि को मनुष्य अपनी सेवा और उपासना के द्वारा अभिव्यक्त करता है। गैलवे के ऐसा कहने से धर्म के क्रियात्मक पहलू की पुष्टि होती है क्योंकि सेवा और उपासना मनुष्य द्वारा की जाने वाली क्रियाएँ हैं। इस प्रकार चूँकि गैलवे धर्म के तीनों पहलुओं की व्याख्या अपनी परिभाषा में करते हैं इसलिए उनकी इस परिभाषा को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। परन्तु अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद चूँकि यह परिभाषा धर्म को ईश्वरवाद का पर्याय मान लेती है, इसलिए यह मानावाद और फिटीसवाद जैसे प्रारम्भिक धर्मों की व्याख्या नहीं कर पाती। मगर इस अल्प त्रुटि के बावजूद गैलवे की यह परिभाषा सबसे अधिक सफल मानी गई है।

सफल परिभाषाओं की अगली कड़ी में जो नाम आता है, वह प्रो० फ्लिन्ट का है। उनका कहना है कि ''धर्म मनुष्य का अपने से अधिक समर्थ सत्ता या सत्ताओं, जो इन्द्रिय अगोचर है परन्तु उसकी भावनाओं और कर्मों के प्रति उदासीन नहीं है, में आस्था से उद्भुत भावनाएँ एवं क्रियाएँ हैं''।[10] फ्लिन्ट की इस परिभाषा में भी धार्मिक चेतना के तीनों पहलुओं की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है। मनुष्य का अपने से अधिक समर्थ सत्ता या सत्ताओं में विश्वास धर्म के ज्ञानात्मक पहलू पर प्रकाश डालता है जबकि उस सत्ता का मनुष्य की भावनाओं के प्रति उदासीन नहीं होना उसकी भावनात्मक पहलू को उजागर करता है और इसी तरह उस सत्ता के प्रति की गई क्रियाएँ क्रियात्मक पहलू की व्याख्या करती है। यद्यपि फ्लिन्ट ने गैलवे के समान ही ईश्वर को संसार से परे माना है परन्तु चूँकि यह परिभाषा एकेश्वरवादी और अनेकेश्वरवादी इन सभी धर्मों पर लागू होती है इसलिए यह परिभाषा गैलवे की परिभाषा से सफल मानी जाती है क्योंकि गैलवे अपनी परिभाषा में एकेश्वरवादी धर्म की व्याख्या नहीं कर पाते। फ्लिन्ट की यह परिभाषा उच्च तथा निम्न दोनों कोटियों के धर्मों की विवेचना करती है इसलिए इस परिभाषा को संकीर्ण अथवा व्यापक नहीं कहा जा सकता । यह परिभाषा धर्म के आंतरिक पक्ष –भावना, विश्वास तथा क्रिया आदि के साथ–साथ बाह्य पक्ष–सत्ता या सत्ताओं का उल्लेख करती है इसलिए इस परिभाषा को त्रुटिहीन माना गया है।

धर्म की एक संगत परिभाषा जेम्स मार्टिन्यू देते हुए कहते हैं ''धर्म एक चिरंतन ईश्वर में विश्वास है, यह अतिमानस और दैवी संकल्पना है जो अखिल ब्रह्माण्ड पर शासन करता है तथा मानवता को नैतिक सूत्रों में अनुविद्ध करता है।''[11] मार्टिन्यू की इस परिभाषा को संगत इसलिए माना गया है कि वे

Copyright © 2020 Authors

धर्म को विश्वास मानकर धार्मिक चेतना के ज्ञानात्मक पहलू को स्पष्ट करते हैं, ईश्वर को चिरंतन मानकर भावात्मक पहलू की ओर संकेत करते हैं तथा उसे मानवता को नैतिक सूत्र में अनुविद्ध करने वाला मानकर क्रियात्मक पहलू पर प्रकाश डालते हैं। इसी तरह धर्म की एक त्रुटिहीन परिभाषा विलियम जेम्स ने भी दी है। वे कहते हैं कि धर्म का अर्थ व्यक्ति का वह ऐकांतिक भाव, क्रिया एवं अनुभव है, जो व्यक्ति और ईश्वर के संबंध के ज्ञान से विकसित होते हैं।

इस प्रकार धर्म–संबंधी इन विभिन्न परिभाषाओं से गुजरते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धर्म कोई एकांगी तत्त्व नहीं है, यह एक सम्पूर्ण तत्त्व है जिससे मनुष्य के ज्ञान, भावना और क्रिया इन तीनों की संतुष्टि होती है। फिर इन परिभाषाओं से यह भी स्पष्ट होता है कि धर्म मनुष्य के लिए एक अति आवश्यक तत्त्व है। यही कारण है कि प्राचीन काल से मनुष्य धर्म के संबंध में विचार करता रहा है और आगे भी सदैव विचार करता रहेगा। इस क्रम में हो सकता है और भी नई–नई परिभाषाएँ आयें, नए–नए ढंग से उनकी व्याख्याएँ की जाएँ। परन्तु संभवतः ऐसा कभी नहीं होगा कि मनुष्य धर्म से सर्वथा कट जाए और वह उसके लिए एकदम से अनावश्यक तत्त्व हो जाए।

सन्दर्भः

1) डी.एम.एडवर्ड, 'द फिलॉसफी ऑफ रिलिजन', पृष्ठ–137–138

2) डॉ. हृदय नारायण मिश्र, 'धर्म दर्शन परिचय', पृष्ठ–23–24, शेखर प्रकाशन, 101 चक जीरो रोड, इलाहाबाद, 2003–04

3) 'Encyclopaedia of Religion and Ethics' , P. 662, vol-10

4) डॉ० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा की पुस्तक, 'धर्म–दर्शन की रूप–रेखा' पृष्ठ–53

5) वही, पृष्ठ–53

6) Martineau, 'A Study of Religion', P-1,Vol-1

7) डॉ० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा ,'धर्म–दर्शन की रूप–रेखा', पृष्ठ–55

8) J.H. Leuba, 'The Psychological origin and the Nature of Religion.' P-8

9) G. Galloway, 'The Philosophy of Religion' ,P-184.

10) Prof. Flint - 'Theism.' P-2

11) James Martineau, 'A study of Religion' ,P. 1-15 Vol-1

Copyright ⓒ 2020 Authors

Copyright ⓒ 2020 Authors